SHODH SAMAGAM
ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

भारतीय ज्ञान परम्परा और योगदर्शन

सुबोध कुमार, पीएच–डी, दर्शनशास्त्र विभाग,
गोपेश्वर महाविद्यालय, हथुआ, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
सुबोध कुमार, पीएच–डी
E-mail : dr.subodh1973@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 15/01/2026
Revised on : 16/03/2026
Accepted on : 25/03/2026
Overall Similarity : 00% on 17/03/2026

शोध सार

प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में 'अमृतस्य पुत्रः' की कामना की गई है, जिसे प्राप्त करने का एक माध्यम 'योग' है। योग दर्शन अत्यन्त प्राचीन भारतीय दर्शन है, जिनका प्रणेता योग ऋषि पातंजलि हैं। यद्यपि यह प्राचीन भारतीय दर्शन है, किन्तु 20वीं व 21वीं सदी में न केवल विश्व में इसका फैलाव हुआ, बल्कि यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का एक अंग भी बन गया। 21 जून को 'विश्व योग दिवस' के रूप में न केवल भारत बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे मनाया जाता है। 20वीं सदी के उत्तरार्ध में बिहार प्रान्त के मुंगेर जिला में स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने योग विश्वविद्यालय की स्थापना किया और जन–जन तथा सुदूर ग्रामीण अंचल तक योग के प्रति जागरूकता फैलाया। 21वीं सदी में बाबा रामदेव जी तथा इनके द्वारा स्थापित 'पातंजलि योग पीठ' ने योग दर्शन, प्रकृति–चिकित्सा और आर्युवेद को एक वैश्विक चेतना जागृति में भगीरथी प्रयास किया। यह सत्य है कि वर्तमान समय में पाँचों तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश असंतुलित व दूषित हो चुके हैं, वैश्विक ताप (ग्लोबल वार्मिंग) से पूरे ब्रह्माण्ड प्रभावित है। इस कारण मनुष्य के जीवनी–शक्ति (प्रतिरोधक क्षमता) क्षीण हो रही है। ऐसे में पूरे विश्व के मानवतावादी समाज भारतीय योग दर्शन–आर्युवेद और प्रकृति चिकित्सा के लिए भारत की ओर आशा भरी ललायित दृष्टि से देख रही है। योग न केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बल्कि मानसिक व अध्यात्मिक शान्ति व उन्नति के लिए परमावश्यक है।

मुख्य शब्द

अष्टांग मार्ग, ज्ञान, योग, गीता, सभ्यता, समृद्धि.

पृष्ठभूमि

प्रारंभ से ही मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्य ने अपनी समृद्धि, सन्तुष्टि एवं तृप्ति के कई उपाय

खोजे हैं। इस विकास यात्रा में वह जंगल एवं गुफाओं से आगे बढ़ते हुए आज ज्ञान विज्ञान की आलोक में धीरे–धीरे विकास के क्रम में आगे बढ़ा। इसी विकास क्रम में कुछ ऐसे ज्ञानवान महापुरूषों का जन्म हुआ है जिन्होंने यह अनुभव किया है कि मानव द्वारा भौतिक जगत में की गई विज्ञान की अनुसंधान एवं प्रगति उसे कुछ सीमाओं तक ही सुखी एवं सन्तुष्ट कर सकती हैं, किन्तु जब तक उसके अंतर्मनकी पीड़ाओं एवं जटिलताओं का समाधान नहीं हो जाता, तब तक वह पूर्ण सन्तुष्ट, शांत, तृप्त एवं आनंदमय नहीं हो पाता है। इस क्रम में प्राचीन भारतीय ऋषि–मुनियों ने कठिन तपस्या मनन, चिन्तन एवं शोध करके मानव के अंतर्मन की इन समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान दिया है, जिसका नाम है 'योग'।[1]

भौतिक विज्ञान के विश्लेषण से स्पष्ट है कि एक पदार्थ का सूक्ष्म रूप अणु–परमाणु है तथा प्रत्येक अणु के केन्द्र में शून्य 'केन्द्रक' होता है जो उस अणु को अपने में नियंत्रित किए रहता है। अणु के केन्द्र में कोई गति नहीं होती है, किन्तु अणु–परमाणुओं की गति का नियंत्रक एवं कारण वह अव्यक्त नाभिक ही होता है। इसी प्रकार मानव के अन्दर केन्द्र में एक परम शून्य अव्यक्त, निरपेक्ष अवस्था होती है, जो मनुष्य के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं इन्द्रियों तथा इस स्थूल शरीर को गति (चेतना) प्रदान करती है। सम्पूर्ण शरीर के व्यक्त स्वरूप का आधार वह अव्यक्त केन्द्र होता है, जिसका ज्ञान मनुष्य को योग विद्या से ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "बाह्य जगत में भ्रम के कारण सुख की खोज में भटकते हुए मन का अन्तर्मुखी होकर अपने अव्यक्त मूल स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है।" योग शब्द 'युज' धातु से बना है। संस्कृत में 'युज' धातु दो अर्थ हैं। प्रथम का अर्थ है 'जोड़ना' तथा दूसरे का अर्थ है 'समाधि'। इस प्रकार 'योग' वह विद्या है जिससे चित्त निर्मल होकर निज रूप में स्थित हो जाता है अर्थात् स्वयं से जुड़ जाता है अथवा समाधि को उपलब्ध हो जाता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में योग विद्या का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन को स्पष्ट करने वाले छः दर्शनों में से एक योग दर्शन है। छः वैदिक दर्शन हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा (पूर्व मीमांसा) और वेदांत (उत्तर मीमांसा और उसके प्रभाग)। ये छः दर्शन भारतीय दर्शन के मूल दर्शन हैं। "महर्षि पतंजलि ने ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व योग–साधना की रचना सूत्र रूप में की थी।"[2] उनके पूर्व योग संबंधित–ज्ञानवेद ग्रन्थों में कहीं–कहीं बिखरे रूप मौजूद थी। काल क्रममें उपनिषद, संहिता, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड–संहिता, शिव–संहिता जैसे कई ग्रन्थों में उसका विस्तार पाया जाता है। महर्षि पतंजलि ने योग के सम्बन्ध में योगसूत्र में लिखा है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[3] "अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।" पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, चीभ और त्वचा), मन, बुद्धि और अहंकार को अन्तःकरण कहा जाता हैं। ये सब मन के उपादान स्वरूप चित्त के भीतर होने वाली भिन्न–भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। चित्त में उठने वाली विचार–तरंगों को वृत्ति (भँवर) कहते हैं। पिछले जन्मों में अथवा इस जन्म में बचपन से जो भी हम विचार करते है, देखते हैं या कार्य करते हैं वही सब चित्त में संस्कारों के रूप में संचित होता है और वैसा ही सोचने–करने–भोगने की हमारी आदत हो जाती है। हम उन आदतों के वशीभूत होते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में वैसी–वैसी हमारे चित्त का स्वभाव हो जाता है। चित्त की यही आदतें (वृत्तियाँ) मन को बार–बार बाह्य जगत में संलग्न किए रखती हैं तथा मन और नई–नई वृत्तियों (आदतों) को निर्मित करके चित्त में इकट्ठा करता है और सुख–दुःख को भोगता है। चित्त की इन वृत्तियों से मुक्त हो जाना ही योग है। चित्त की वृत्तियों का निरोध होते ही जीव अपने निज आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है जो परम मोक्ष अथवा परम आनन्द (सच्चिदानंद) की स्थिति होती है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में लिखा है कि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[4] अर्थात् (चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने की स्थिति में) "द्रष्टा अपने (अपरिवर्तनशील) स्वरूप में स्थित हो जाता है।" जीव के चित्त में जिस समय जो वृत्ति उठती है, वही अपना रूप मानने लगता है, कामवृत्ति आने पर अपने को काममय, क्रोध वृत्ति आने पर क्रोधमय, मोह वृत्ति आने पर मोहमय। जब समस्त वृत्तियाँ लीन हो जाती है, तब चेतन अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही 'योग' की अवस्था है।

योग अष्टांग मार्ग. योग महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग बतलाए है[5] – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम सें– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सार्वभौम नैतिक आचरण में आते है। नियम के अन्तर्गत शौच (स्वच्छता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान का महत्व शरीर, मन और आत्मशुद्धि के लिए बताया गया है। आसन के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "स्थिरसुखम्

आसनम्" अर्थात् जो स्थिर और सुखपूर्ण हो वह आसन है। शारीरिक स्वास्थ्य को एवं स्थिरता और साथ ही मन स्थिर बनाए रखने के लिए इस साधन का उपयोग होता है। चौथा अंग प्राणायाम है, जिसमें मुख्यतः श्वाँस को लयबद्ध नियंत्रण करना होता है। प्राणायाम से ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण क्षीण होता है। पाँचवें अंग प्रत्याहार में मन को बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी करना होता है। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण न कर अपने संचालन केन्द्र चित्त की ओर लौटती हैं और शांत चित्त के समान वे भी शांत हो जाती है, तब यह प्रत्याहार है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं क्योंकि इनके पालन से मनुष्य का बाह्य व्यवहार, चरित्र और एवं शरीर शुद्ध होता है और वह योग के अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान, समाधि के लिए तैयार हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"। अर्थात् किसी देश (आलम्बन) में चित्त को बाँध देना धारणा है तथा "तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्" अर्थात् उसी (आलम्बन) में मनोवृत्ति का एक रस चलना ध्यान है। इस प्रकार धारणा में चित्तवृत्ति का लगातार बने रहना ध्यान है। ध्यान करते हुए जब चित्त का स्वरूप शून्य हो जाना समाधि है। महर्षि पतंजलि ने समाधि के कई भेद बतायें हैं "सम्प्रज्ञात समाधि, वह समाधि है जो वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के भाव सोपान से युक्त होती है। यह प्रथम सोपान की समाधि है, जिसमें मन अपनी शुद्धता में सुरक्षित रहता है।'[6] बिना ध्येय का विचार तर्क कहलाता है, निषेधात्मकता वाला तर्क, कुतर्क कहलाता है, विधायक भूमि वाला तर्क वितर्क कहलाता है।

"असंप्रज्ञात समाधि में, सारी मानसिक क्रिया की समाप्ति होती है, और मन केवल अप्रकट संस्कारों को धारण किए रहता है।"[7] असंप्रज्ञात समाधि में विचार, वितर्क, आनन्द और 'मैं' (अहंकार) तथा 'हूँ' (अस्मिता) आदि का भाव तिरोहित हो जाता है किन्तु अचेतन मस्तिष्क में जन्मो–जन्मों के संग्रहीत संस्कार अभी भी विद्यमान रहते हैं। 'मैं' अहंकार है, 'अस्मिता' अहंकार विहीन 'अहं' है। जब हम कहते हैं 'मैं हूँ' तो 'मैं' अहंकार है तथा 'हूँ' अस्मिता है। मात्र अस्तित्व को, होने को अनुभव करना अस्मिता है। असम्प्रज्ञात समाधि में अहं तथा अस्मिता भी तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार प्रथम समाधि, जो केवल नाममात्र की समाधि है, वह है, संप्रज्ञात समाधिओं सूक्ष्म और शुद्ध हुए मन वाली समाधि। द्वितीय समाधि है असंप्रज्ञात समाधि–अ–मन की समाधि, किन्तु महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जब मन तिरोहित हो जाता है, जब कोई विचार नहीं रहते, फिर भी अतीत के सूक्ष्म बीज अचेतन में संचित रहते हैं। चेतन मन दो भागों में बँटा हुआ है। प्रथमः संप्रज्ञात शुद्ध हुई अवस्था का मन यहाँ विद्यमान रहता है। द्वितीयः असंप्रज्ञात–जिसमें शुद्ध मन भी तिरोहित हो जाता है। उक्त दोनों समाधियों की उपलब्धि के पश्चात् भी यात्रा पूरी नहीं होती है क्योंकि अभी चेतन मन ही तिरोहित हुआ है। अचेतन मन समस्त संस्कारों सहित अभी भी विद्यमान है। चेतन मन के ठीक पीछे अचेतन मन का फैला जंजाल है। हमारे समस्त पिछले जन्मों के बीज अचेतन में संग्रहीत रहते हैं। पतंजलि यहाँ अचेतन को दो भागों में बाँटते हैं। उनके अनुसार सबीज (बीज सहित) समाधि वह समाधि है, जिसमें अचेतन मन संस्कारों सहित विद्यमान रहता है, किन्तु चेतन मन गिरा दिया गया है। जब अचेतन के संस्कारों के बीज भी जल चुके होते हैं तो उसे निर्बीज (बीज रहित) समाधि कहते है। निर्बीज समाधि घटित होने से भविष्य के जन्म के बीज अंकुरित होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इसे ही योग में स्थित होना (योगस्थ) अथवा कैवल्य अथवा निर्वाण अथवा मोक्ष की उपलब्धि कहते हैं।

बुद्ध अष्टांग मार्ग. भगवान बुद्ध ने भी चित्त की वृत्तियों को निरोध करने अर्थात् चित्त को संस्कार रहित शुद्ध करने के लिए मध्यम मार्ग जिसे आर्य (श्रेष्ठ) अष्टांगिक (आठ अंगों वाला) मार्ग का जिक्र है, उपदेश दिया है। वह है सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्ध के विचारानुसार अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य का चित्त पूर्ण शुद्ध हो जाता है तथा उसके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। चित्त को शुद्ध करने के लिए उन्होंने "चित्त विशोधिनी विद्या" 'विपश्यना' का उपदेश दिया है। विपश्यना पालि भाषा के 'विपस्सना' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है "तथ्य रूप में अर्थात् शुद्ध रूप में जो जैसा है, उसे वैसा देखना।" 'विपश्यना' का अर्थ है "यथाभूत ज्ञान दर्शनम्" अर्थात् जो जैसा है उसे वैसे ही देखना ही विपश्यना है। राग–द्वेष और पुरानी मान्यताओं तथा धारणाओं के बगैर शुद्ध रूप में देखना अथवा बिना किसी प्रतिक्रिया व्यक्त किये हर क्षणकी सच्चाई को सिर्फ देखना ही विपश्यना है।[8] साक्षी या

द्रष्टाभाव की साधना, सजगता और होशपूर्ण रहने की साधना, वर्तमान अथवा क्षण–क्षण में जीने की साधना बुद्ध की विपश्यना विधि का सार तत्व है।[9] विपश्यना के सम्बन्ध में ओशो ने अपने प्रवचन में कहा है कि 'विपश्यना वह ध्यान विधि है जिसने संसार में किसी भी अन्य ध्यान की अपेक्षा सबसे अधिक लोगों को सम्बुद्ध किया जा सकता है, क्योंकि यह सार मात्र ही है।[10] "भगवान बुद्ध का यह प्रयोग अति निर्मल, सार्वजनीन, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सनातन, वैज्ञानिक तथा आशाफलदायी था और आज भी प्रासंगिक है।"[11]

गीता में योग. श्रीमद्भागवतगीता में "समत्वं योग उच्यते'[12] अर्थात् सम अवस्था में स्थित होने को 'योग' कहा गया है। योग में स्थित होने के कई मार्ग अथवा माध्यम होने से शास्त्रों में कई 'योगों' का वर्णन मिलता है जैसे– ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग, हठ योग, राजयोग, मंत्र योग, नाद योग, जप योग, ध्यान योग, लय योग आदि। जब योगी 'योग' में स्थित हो जाता है तो वह संसार के कार्य बिना किसी निज स्वार्थ (कामना) के करने लगता है, ऐसा किया गया कर्म 'कर्मयोग' हो जाता है और कर्म करने में कई गलतियाँ नहीं होती है। जैसा कि गीता में कहा गया है कि "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् कमों में कुशलता ही योग है। इसी प्रकार जब भक्त की समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाता हैं तथा उसका चित्त निर्मल होकर पूर्णरूपेण ईश्वर की शरण में समर्पित हो जाता है तो इस अवस्था को भक्ति योग कहते हैं। जिस किसी माध्यम से योग की स्थिति घटित होती है, उसे उसी योग के नाम से जाना जाता है जैसे मंत्र जाप से चित्त निर्मल होकर योगस्थ होता है तो उसे जप योग कहते हैं। ध्वनि के सहारे योगस्थ होने को नाद–योग तथा आसन, प्राणायाम, मुद्राओं के सहारे योगस्थ होने को हठ योग और सहज अवस्था में समभाव में स्थित योगी को राजयोगी कहा जाता है।

स्व–स्वरूप में स्थित अथवा योगस्थ होने के लिए भगवान शिव द्वारा बतलाई गई 'अमनस्क विद्या' का गुरु गोरखनाथ ने उपदेश दिया है। गुरु गोरखनाथ ने इस कृति में बाह्याडम्बर तथा हठयोग के नाम पर प्रचलित बाह्य अनावश्यक साधन क्रमों (आसन, बन्ध मुद्रा, चक्रभेदन आदि) की साधक के लिए उपेक्षा अथवा तटस्थता को ही श्रेयस्कर 'अमनस्क विद्या' वास्तव में योग की महाविद्या है। गोरखनाथ जी ने कहा है कि 'यहुमन शकती, यहुमन सीव, यहुमन पाँच तत्व का जीव। यहुमन ले जे उनमन रहै, तो तीन लोक की बातां कहै।[13] (गोरखवाणी, सबदी 50)

"यह मन ही शक्ति है, यह मन ही शिव है तथा यह मन ही. पंचतत्व का जीव है। जो योगी इस मन से 'उन्मन' रहता है वह तीनों लोकों का ज्ञाता हो जाता है।" 'अमनस्क योग' समाधि के परे की मन की महालयावस्था है। महायोगी गुरु गोरखनाथ ने कहा है कि योगी को किसी भी विषयवस्तु का चिन्तन न करते हुए सहज स्वरूप में निरंजन परम शून्य तत्व में समाहित रहना चाहिए।

पूर्ण योग. महर्षि अरविन्द ने भी योग के सम्बन्ध में कहा है कि "पूर्ण योग का मुख्य उद्देश्य है सामान्य मानवीय चेतना का व्यापक और उच्च ईश्वरीय चेतना में परिवर्तन तथा दिव्य चेतना के मुख्य उपादान अर्थात् शांति, प्रकाश, आनन्द, ज्ञान को मनुष्य के भौतिक जीवन में उतार कर उसकी प्रकृति का उच्च प्रकृति में रूपान्तर करना। इस रूपान्तर का उद्देश्य है जीवन में दिव्यता लाना है।[14] श्री अरविन्द यह मानते हैं कि जब तक मानव मन नीरव और शान्त नहीं होता, तब तक किसी भी प्रकार का योगाभ्यास सम्भव नहीं है। महर्षि अरविन्द ने 'इविनिंग टॉक्स' में कहा है कि "योग मूलतः एक मनोवैज्ञानिक अनुशासन है। पश्चिमी मनोविज्ञान अपूर्ण इसीलिए है कि वह आन्तरिक यात्रा की पद्धति जानता ही नहीं, जिसे भारतीय योगियों ने शताब्दियों की साधना से अन्वेषित किया था।

निष्कर्ष

यह कहना न होगा कि भारतीय मनोविज्ञान के लिए दो चीजें अनिवार्यतः आवश्यक हैं, अर्न्तयात्रा और वहाँ के तत्वों की पहचान जो यह बिना योगाभ्यास के सम्भव नहीं है।[15] यदि मानव जाति को इसकी एक झलक भी मिल जाय कि कितना असीम आनन्द, कितनी पूर्ण शक्तियाँ सद्योत्पन्न ज्ञान के कितने अद्भुत अमृत तत्त्व का भण्डार तथा हमारे भौतिक व अस्तित्व की कितनी बड़ी शान्ति, उन क्षेत्रों में दबी पड़ी हमारी प्रतीक्षा कर रही है, जिन्हें हमारे पाशविक विकास ने अभी तक हस्तगत नहीं होने दिया।

सन्दर्भ सूची

1. 'युजंपी योगे' गण सातवाँ। 'युजिं च समाधों गण चौथा। हैम धातु पाठ योगांक (कल्याण) दसवें वर्ष का विषेषांक गीता प्रेस, गोरखपुर पृ. 327।
2. आयंगार, बी. के. एस. (2005) *सभी के लिए योग,* प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 13।
3. महर्षि पंतजलिकृत (1974) *योग दर्शन,* भाष्यकार अभिलाष दास, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद, पृ. 15।
4. विवेकानन्द साहित्य (प्रथम खण्ड), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता–14, चतुर्थ संस्करण 1995, पृ. 118।
5. अष्टांग योग योगांक (कल्याण) दसवें वर्ष का विशेषांक, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 77, (1962)।
6. ओशो (1976) *योग–सूत्रः प्रज्ञा और समाधि,* डायमण्ड पाकेट बुक्स प्रा.लि., नई दिल्ली–110020, पृ. 10।
7. ओशो, योग–सूत्र, उपर्युक्त, पृ. 21।
8. गोयनका, सत्यनारायण (1981) *धर्म–जीवन जीने की कला,* विपष्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, महाराष्ट्र, पृ. 89।
9. हन्ह, तिक न्यात (2024) *समग्र शांति,* फुल सर्कल पब्लिशिंग प्रा.लि., दिल्ली, पृ. 16।
10. ओशो (2003) *ध्यान योग–प्रथम और अन्तिम मुक्ति,* रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., पूना, पृ. 73।
11. गोयनका, सत्यनारायण (2014) *त्रिपिटक में सम्यक् सम्बुद्ध,* भाग–दो, विपष्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, महाराष्ट्र, पृ. 1।
12. श्रीमद्भगवतगीता, अध्याय–2, श्लोक–48, रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर, पृ. 34।
13. प्रणीत, गुरु गोरक्षनाथ (2012) अमनस्क योग, श्री गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर, पृ. 6।
14. सिंह, शिव प्रसाद (1999) उत्तर योगी (श्री अरविन्द जीवन और दर्शन), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 342।
15. शिव प्रसाद सिंह, उपर्युक्त, पृ. 358।

****